जब गुलाम सुल्तान बने

सी. एन. सुब्रह्मण्यम

जो लोग दिल्ली सल्तनत का इतिहास पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे गुलाम वंश से बखूबी परिचित होंगे। इस दौर में दिल्ली सल्तनत के अधिकांश बड़े अधिकारी व सेनापति गुलाम थे। यहां तक कि सल्तनत के संस्थापक सुल्तान कुतुबुद्दीन अई बेग, इल्तुतमिश और बलबन खुद गुलाम थे। इसलिए इन सुल्तानों को गुलाम वंश के राजा कहते हैं। शायद आपके मन में इस विडम्बना को लेकर कभी-न-कभी कुछ सवाल उठे होंगे।

किसी भी समाज के सबसे निचले दर्ज़े का वर्ग होता है गुलाम वर्ग। इन्हें कोई अधिकार या स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। इन्हें बाज़ारों में ढोरों की तरह खरीदा-बेचा जाता था। इनका न कोई परिवार होता था न रिश्ते-नातेदार। आपने शायद अमेरिका के अफ्रीकी दासों का वर्णन भी पढ़ा होगा। दास लोग राज्य के उच्चत्तम पदों पर नियुक्त किए जाएं और खुद राजा भी बन जाएं – इतिहास शायद इसीलिए दिलचस्प है कि इसमें ऐसी बातें होती हैं।



कबीलों के योद्धा

दिल्ली सल्तनत की स्थापना मध्य एशिया से आए योद्धाओं ने की थी। दसवीं शताब्दी से मध्य एशिया, ईरान और अफगानिस्तान में कई साहसी योद्धा घूम रहे थे। उन सबके पास थोड़ी बहुत सेना थी और वे सब एक स्थाई राज्य की तलाश में घूम रहे थे – कोई छोटा-मोटा कमज़ोर राज्य दिखा तो उस पर हमला बोलकर अपना आधिपत्य जमा लिया। जो भी ज़रा सफल योद्धा दिखा तो कई छुटभैए योद्धा उसके

साथ हो जाते। अब पलड़ा कमज़ोर हुआ तो वे और किसी के साथ हो लेते। यानी उस पूरे इलाके में स्वतंत्र योद्धाओं का जमघट-सा था। सब एक दूसरे की होड़ में, कोई कभी किसी के साथ तो कभी और किसी के साथ....। एक परिदृश्य तो यह था।

और दूसरा परिदृश्य था इन योद्धाओं के परिवारों का। ये सारे योद्धा छोटे-मोटे कबीलों की उपज थे। कबीलों में पारिवारिक रिश्तों पर ज़ोर रहता है और अक्सर एक योद्धा के साथ उसके भाई-भतीजे भी रहते थे। भाई-भतीजे थे तो उनके विशेष अधिकार भी थे। योद्धा अपने अधिकारों व संपत्ति का भोग रिश्तेदारों के साथ मिलकर ही कर सकता था। उदाहरण के लिए गोर राज्य के सुल्तान शम्सुद्दी को अपने राज्य का एक बड़ा हिस्सा अपने भाई की सूबेदारी पर छोड़ना पड़ा। यह भाई उस इलाके पर लगभग स्वतंत्र रूप से शासन करता था। लेकिन उसे भी अपने इलाके में अपने परिवारजनों को महत्वपूर्ण पद देने पड़े। दरअसल इसी भाई ने 1295 में हिंदुस्तान पर विजय पाई थी।

ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में कोई योद्धा दूसरे को सर्वे-सर्वा नहीं मानता होगा। राजा या सुलतान कहलाने से ही

कुतुब मीनार (दिल्ली): गुलाम सुल्तान कुतुबुद्दीन अई बेग ने इसका निर्माण शुरू किया था और इल्तुतमिश ने पूरा किया।



किसी को सत्ता हासिल तो नहीं होती। क्योंकि आज 10-20 छुटभैए योद्धाओं का साथ है तो एक छोटे राज्य पर कब्ज़ा है – कल इनमें से चार-पांच महत्वाकांक्षी नाखुश होकर चल दिए तो सुल्तान की सल्तनत का क्या होगा? कुल मिलाकर मामला काफी अस्थिर था।

जो भी राजा या सर्वे-सर्वा बनने का ख्वाब देखता था उसके सामने दो समस्याएं थीं – एक तो उसके भाई-भतीजे – जो कल तक लंगोटिया यार बनके घूम रहे थे आज वे उसे अपना सर्वे-सर्वा क्यों मानें? दूसरा उसकी सैनिक शक्ति भी दूसरे योद्धाओं पर टिकी हुई होती थी। वे भी इस बात को समझते थे। उनकी भी तो ख्वाहिश थी कि वे भी सर्वे-सर्वा बनें! अब वे और किसी को वह अधिकार क्यों दें?

इसलिए सुल्तान धीरे-धीरे अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए अपने सह योद्धाओं और परिवार जनों से स्वतंत्र होने के प्रयास में थे। ऐसे में मध्य एशिया के योद्धा सुल्तानों ने दास प्रथा का सहारा लिया। उन्होंने काफी बड़ी संख्या में दासों को खरीदा और उन्हें प्रशिक्षित करके अपने काम में लगाया। इस चक्कर में 'दास' का मतलब ही कुछ बदलने लगा।



वफादारी और गुलाम

पत्ते के खेल में गुलाम का नाम बादशाह और बेगम के तुरन्त बाद लिया जाता है। (सोचने की बात है कि अंग्रेज़ी पत्ते में गुलाम नहीं होता बल्कि जैक होता है।) इसी से राजपरिवार और राजसत्ता से गुलामों की निकटता स्पष्ट हो जाती है। व्यक्तिगत सेवा और घरेलू काम के लिए गुलामों को रखना एक प्राचीन परंपरा थी जो मध्यकालीन इस्लामी राज्यों में भी काफी प्रचलित थी। धनी व्यापारी, अधिकारी, सेनापति, विद्वान, संत और सुल्तान, सभी के घरों में गुलाम होते थे; कहीं ज़्यादा तो कहीं कम।

शायद ज़्यादातर गुलाम युद्ध में बंदी बनाकर लाए गए थे। वैसे प्रशिक्षित गुलामों की कीमत काफी अधिक थी। कई व्यापारी नन्हें गुलामों को खरीदकर उन्हें प्रशिक्षित करते थे – धर्म में, युद्ध कला में, प्रशासन में। फिर उन्हें ऊंची कीमतों पर सुल्तानों को या बड़े सेनापतियों को बेच देते थे। अक्सर सुल्तान और सेनापति भी स्वयं नन्हे गुलाम लड़कों को खरीदकर उन्हें अपने परिवार के बीच पालते थे और उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करते थे। ऐसे प्रशिक्षित गुलामों की खूब कदर थी और उनके आरामदायक जीवन की व्यवस्था की जाती थी।

यह कुछ अजीब-सी बात लगती है न! उसी समाज में कई अच्छे पढ़े-लिखे और कुशल योद्धा होंगे (जो गुलाम नहीं थे)। उन्हें उतनी ही तनख्वाह देकर काम

पर लगाया जा सकता था, जितना कि गुलामों पर खर्च किया जाता। बावजूद इसके सुल्तान आदि को गुलामों को प्रशिक्षित करके उन्हें काम पर लगाना ज़्यादा पसंद था। इसका कारण खोजना खासा जटिल काम है। इतिहासकारों में भी इस संदर्भ में काफी तीखा विवाद होता रहा है।

बहरहाल मुझे जो कारण समझ में आ रहा है मैं यहां बताऊंगा – आप भी इस पर अपनी राय दे सकते हैं।

मध्यकालीन सामाजिक व राजनैतिक विचारधारा में वफादारी पर काफी ज़ोर था। जिसके पास जितने अधिक वफादार होते वह उतना शक्तिशाली माना जाता था। वफादार वो है जो अच्छे और बुरे दिनों में आपका साथ दे और जो आपके हित को अपने व्यक्तिगत हित के ऊपर माने। अनवरत संघर्ष और राजनैतिक अस्थिरता के काल में वफादारी एक खासी महत्वपूर्ण पूंजी थी।

वफादारी कायम हो इसके लिए या तो सुल्तान कुशल और सफल योद्धा हो या परंपरागत राजपरिवार का हो जिसके प्रति वफादारी की परंपरा रही हो। लेकिन जैसा कि हमने देखा कि 12 वीं सदी में एक तो स्थापित राजघरानों की कमी थी और दूसरे तमाम योद्धाओं को हार और जीत लगभग बराबर मात्रा में हासिल थी। ऐसी परिस्थिति में मध्यकालीन सेनापतियों ने पाया कि गुलामों को अत्यंत वफादार सेवकों के रूप में उभारा जा सकता है। गुलामों के अपने रिश्ते-नाते या स्वतंत्र हैसियत जैसा तो कुछ था नहीं। वे सब कुछ के लिए अपने मालिक पर निर्भर थे। मालिक चाहे तो उन्हें आसमान पर बिठा दे, न चाहे तो झाडू लगवाए। एक खलीफा का कहना था:

"जब मैं दरबार में बैठता हूं तो एक गुलाम को बुलाकर अपने बगल में बिठा सकता हूं। इस तरह कि उसके और मेरे घुटने एक दूसरे को रगड़ें। जैसे ही दरबार समाप्त हो जाए तो मैं उसे अपने घोड़े की मालिश करने को कह सकता हूं और उसे तनिक भी बुरा नहीं लगेगा। अगर मैं यही काम और किसी से करने को कहूं तो वह कहता, 'मैं आखिर तुम्हारे पक्षधर का बेटा हूं' या 'तुम्हारा खास साथी हूं।' .... और मैं उसे राजी नहीं करवा पाता।"

कहने का तात्पर्य है कि गुलामों से बिना किसी शर्त के वफादारी की उम्मीद की जा सकती थी जो अन्य लोगों से, चाहें वे कितने ही बुद्धिमान या वीर हों, नहीं की जा सकती।

जब कभी किसी सत्ता के पारंपरिक दावेदारों के अधिकारों को कम करना होता तो आमतौर पर गुलामों का सहारा लिया जाता था। जो काम भाई भतीजे मना कर दें या पुराने साथी इंकार कर दें, उसे गुलाम खुशी से कर देगा। ऐसे में सुल्तान या सेनापति को अपने काम करवाने के लिए पांरपरिक सत्ताधारियों पर निर्भर नहीं होना पड़ता था।

मसलन मुईजुद्दीन गोरी ने जब उत्तर भारत पर विजय पाई तो उसने अपने नए प्रांतों पर शासन करने के लिए और नई जीत हासिल करने के लिए गोर के

पुराने दरबारियों या रिश्तेदारों का उपयोग नहीं किया। उनकी जगह उसने अपने निजी दासों को नियुक्त किया।



गुलाम वफादार क्यों?

इस संदर्भ में एक वाजिब सवाल उठ सकता है कि गुलाम वफादार क्यों होते थे? रोम और अमेरिका के इतिहास से तो स्पष्ट होता है कि दास और मालिकों के बीच परस्पर द्वेष, संदेह और बैर की भावना थी। दास मौका देखकर भाग निकलते थे या एक होकर विद्रोह कर देते थे। ऐसे में दासों में वफादारी के बारे में सोचना ही अजीब लगता है।

मध्यकालीन इस्लामी दास प्रथा और अन्य दास प्रथाओं में एक बुनियादी अंतर था। रोम या अमरीका में दासों को उत्पादन कार्य के लिए खेतों व खदानों में लगाया जाता था। हरेक मालिक के पास हज़ारों दास होते थे, जिनसे मालिक का कोई व्यक्तिगत संबंध था ही नहीं। वह शुद्धतः एक शोषक संबंध मात्र था। ऐसे में गुलामों में मालिकों के प्रति नफरत और विद्रोह की भावना उभरना स्वाभाविक था। भारत में मध्यकाल में खेतों में किसान काम करते थे। उत्पादन कार्यों में दासों का उपयोग बहुत कम था। ज़्यादातर दास मालिकों के घरेलू कामकाज के लिए रखे जाते थे। हालांकि ये खरीदे-बेचे जाते थे लेकिन इनका मालिकों से एक व्यक्तिगत संबंध बनना ज़्यादा स्वाभाविक था। मध्यकालीन धार्मिक परंपराओं में, खासकर इस्लाम में, दास-मालिक के बीच एक गहन रिश्ते की विवेचना की गई है। इसमें बंदा (गुलाम) और मालिक का रिश्ता खुदा और इंसान के रिश्ते के समतुल्य माना जाता था। जिस प्रकार खुदा अपने बंदों से उदार और पैतृक व्यवहार करता है, हालांकि वह सर्वे-सर्वा है, उसी प्रकार मालिकों से भी अपेक्षा थी। ईश्वर के भक्तों की स्थिति की दासों की स्थिति से तुलना की जाती थी। जिन्होंने यह स्वीकारा कि इनका कोई और नहीं है, जिन्होंने अपने मालिक के किसी भी बर्ताव को सहर्ष स्वीकार लिया है, जो अपने तमाम अधिकारों व मांगों को त्याग चुके हों...। इस तरह समाज में दास प्रथा को मान्यता तो मिली, साथ ही दासों के लिए एक मानवीय दर्जा भी सुनिश्चित होता गया।

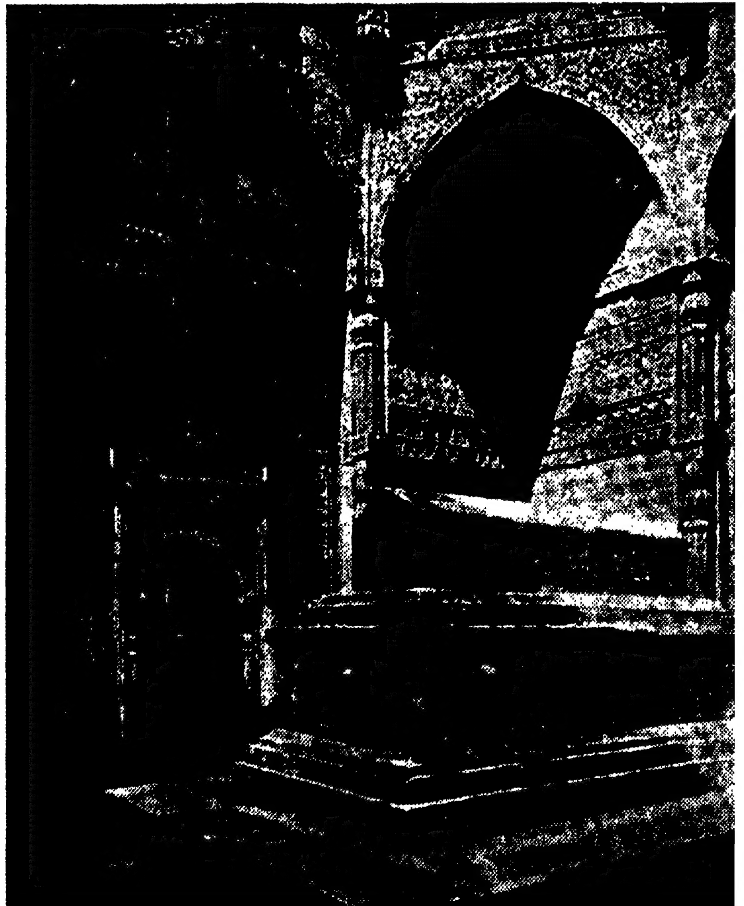
इसी वैचारिक माहौल में दासों का शासन, प्रशासन और सैनिक कार्यवाहियों में उपयोग बढ़ा। हां, यह ज़रूर है कि अधिकांश दासों की हालात दयनीय ही थी और उनका रुख द्वेषपूर्ण रहा होगा। लेकिन उनमें से कुछ जिन्हें मालिक अपने खास बंदों के रूप में चुन लेता उनका भाग्य कुछ फर्क हो जाता।

इन खास दासों से मालिक अपने बेटों जैसा व्यवहार करता, उनकी परवरिश और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देता, उन्हें समय-समय पर ज़िम्मेदारियां देकर उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाता और क्रमश: उन्हें ओहदे प्रदान करके उनका उत्साह बढ़ाता।

गौर का सुल्तान था मुईजुद्दीन; उसका एक गुलाम था कुतुबुद्दीन अई बेग। अई बेग को शुरू में सुल्तान के दरबार में सेवा करने का मौका दिया गया। फिर उसे एक सैनिक टुकड़ी का नेता बनाया गया (सर-ए-ख्याल)। फिर शाही अस्तबल का निरीक्षक (अमीर-ए-आखुर)। फिर घोड़ों की चराई का निरीक्षक (युद्ध के दौरान घोड़ों को चराना अत्यंत महत्वपूर्ण काम था)। और फिर कुहराम का सूबेदार बनाया गया। मुईजुद्दीन के मरने के बाद वह दिल्ली का पहला सुल्तान बना।

वंश के नहीं, मालिक के गुलाम

जब अई बेग सुल्तान बना तो मुईजुद्दीन के वंश के उत्तराधिकारी गोर पर अपना आधिपत्य खो चुके थे। यह अपने आप में शायद एक विडंबना है कि सुल्तान के होनहार गुलाम उसके द्वारा जीते गए इलाके में राज्य कायम करें और उसके वंशज अपने ही पैतृक राज्य को खोकर दर-दर भटकें।



इल्तुतमिश का मकबरा (दिल्ली)

दरअसल गुलामों की वफादारी मालिक के प्रति थी। मालिक न रहा तो उसके उत्तराधिकारी के प्रति उनका कोई ख़ास लगाव नहीं रहता। ऐसी स्थिति में वे खुद सत्ता के दावेदार बन जाते।

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में इस बात को बार-बार देखा जा सकता है। हमने अई बेग की बात देखी। उसके बाद उसका गुलाम इल्तुतमिश सुल्तान बना। उसे मुईजुद्दीन के अन्य गुलामों से संघर्ष करना पड़ा। तो उसने भी वही पुराना तरीका अपनाया। उसने अपने खास गुलामों (बंदगान-ए-खास) को बढ़ावा दिया। इन्हें चिहलगानी बंदगान (चालीस गुलाम) कहा जाता है। *



सिर्फ गुलामों का सहारा काफी नहीं

इल्तुतमिश ने अपने गुलामों का एक खास उपयोग किया। उसने उन गुलामों को सेनापति बनाकर अलग-अलग प्रांतों में राज्य करने भेज दिया। वे सुल्तान की तरफ से दूर-दराज़ के इलाकों को काबू में रखते, और वहां से लगान इकट्ठा करते। गौर करने की बात है कि केन्द्र सरकार के ऊंचे पदों पर इल्तुतमिश ने अपने तुर्की गुलामों को नहीं रखा। इन पदों पर उसने ईरान और मध्य एशिया से आए पुराने प्रशासक परिवारों के सदस्यों को नियुक्त किया। ये 'ताजिक मालिक' कहलाते थे, कुशल प्रशासक थे और गुलाम नहीं थे। इनके पास मध्य एशिया व पश्चिमी एशिया के बड़े इस्लामी राज्यों में प्रशासन संभालने का तजुर्बा था। इस प्रकार इल्तुतमिश के बड़े अधिकारियों में दो तरह के लोग थे – एक उसके अपने तुर्की गुलाम, जिन्हें उसने सेनापति बनाकर प्रांतों को संभालने भेजा था।

और दूसरे, ताजिक मालिक जो गुलाम नहीं थे और कुशल प्रशासक थे जिन्हें केन्द्र में प्रशासन कार्य के लिए रखा था।

इल्तुतमिश ने इस तरह का एक मिलाजुला शासक वर्ग क्यों बनाया, यह विचार करने की बात है। शायद वह सेनापति व सूबेदार के पदों पर अपने गुलामों को नियुक्त करके सैनिक शक्ति पर अपना सीधा नियंत्रण रख सकता था। अगर गुलामों की जगह स्वतंत्र योद्धा सेनापति या सूबेदार बनाए जाते तो वे शायद सुल्तान से दबकर न रहते। उल्टा सवाल यह भी हो सकता है, उसने केन्द्र के

* आमतौर पर सुल्तान बनने से पहले कुतुबुद्दीन अई बेग और इल्तुतमिश जैसे गुलामों ने अपने मालिक या मालिक के उत्तराधिकारियों से बंदगी मुक्ति हासिल कर ली थी (सिर्फ बल्बन के संदर्भ में स्रोतों में स्पष्ट उल्लेख नहीं है)।
यह जरूरी था क्योंकि इस्लामी कानून के अनुसार गुलाम सुल्तान नहीं बन सकते थे।

ऊंचे पदों में गुलामों को क्यों नहीं रखा?

इसके शायद दो कारण थे। इल्तुतमिश भारत में एक नया साम्राज्य स्थापित कर रहा था। इस काम में उसे वफादारी के अलावा प्रशासन के तजुर्बे और सूझबूझ की भी ज़रूरत थी।

मध्य एशिया के पुराने प्रतिष्ठित प्रशासक परिवार साम्राज्य तंत्र के जानकार थे, उसे चलाने में माहिर थे। इसलिए उन्हें नियुक्त किया गया। एक और कारण था, मध्यकालीन दरबार की संस्कृति। उन दिनों किसी राज दरबार को इस बात से आंका जाता था कि उसमें कितने शिक्षित, सुसंस्कृत व प्रतिष्ठित परिवारों के लोग थे। अगर किसी सुल्तान के दरबार में केवल उसके गुलाम होते तो उसकी कदर कम ही होती। इस मामले में इल्तुतमिश एक तरह से फायदे में ही था। उन दिनों मंगोल कबीले चंगेज़ खान और उसके बेटों के नेतृत्व में मध्य एशिया के इस्लामी राज्यों को ध्वस्त कर रहे थे। वहां से खानदानी परिवार भागकर दिल्ली की ओर पलायन कर रहे थे। दिल्ली तब उन सबके लिए एक मात्र पनाह बना हुआ था।

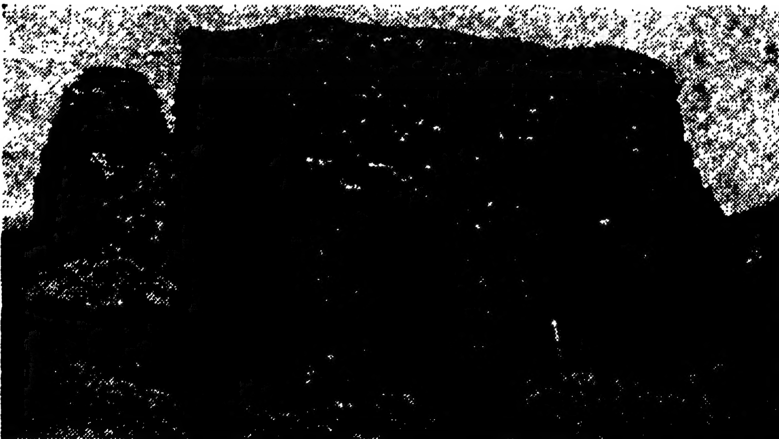


गुलाम राजा, किसके राजा?

तो 'गुलामों का राजा' बनने से क्या तात्पर्य है? क्या इससे गुलामों की सत्ता कायम हुई? जो गुलाम उच्च अधिकारी या सुल्तान बने वे समाज के किस तबके के हितों की रक्षा कर रहे थे? क्या वे गुलामों के हितों को बढ़ा रहे थे?

यह गौर करने की बात है कि सल्तनत

दिल्ली स्थित बलबन का मकबरा



के तमाम उच्च अधिकारी और सुल्तान खुद गुलाम होने के बावजूद अन्य गुलामों की दशा में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। न गुलामी खत्म हुई न ही गुलामों के हित में कोई कदम उठाए गए, उल्टा गुलाम खुद दूसरों को अपने गुलाम बनाने में लगे थे।

ऐसा क्यों हुआ, यह सोचने योग्य प्रश्न है। इससे सत्ता का स्वरूप स्पष्ट होता है। कुतुबुद्दीन अई बेग या इल्तुतमिश या बलबन सत्ता के एक पूर्व निर्मित ढांचे को सुदृढ़ कर रहे थे। वह ढांचा सेनापतियों व उच्च अधिकारियों की सत्ता कायम करने के लिए बना था। ढांचा सैनिक शक्ति पर आधारित था और इसका मकसद था किसानों व कारीगरों से लगान वसूल करना, समाज की वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखना। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि सत्ता को चलाने वाला गुलाम है कि स्वतंत्र तुर्की है या अफगान, हिन्दू है या मुसलमान, ब्राह्मण है या तथाकथित अस्पृश्य।

गुलाम सुल्तान बने मगर यह गुलामों की सत्ता नहीं थी। सुल्तान या सेनापति की सामाजिक पृष्ठभूमि इसके लिए कोई महत्व नहीं रखती थी। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में यह बात काफी दिलचस्प तरीके से स्पष्ट होती है। मोहम्मद तुगलक जब सुल्तान बना उसने इसी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए ऊंचे पदों में तमाम निम्न वर्ग के लोगों को नियुक्त किया। बरनी इस बात से आश्चर्य चकित था, "उसने... एक कमीने गायक के पुत्र को... उन्नति प्रदान की। उसने अजीज खम्मार (शराब बनाने वाला), फिरोज़ हज्जाम, मनका तब्बा (बावर्ची), लद्दा माली... बच्चा जुलाहे को ऊंचे पद दिए। पीरा माली जो हिन्दुस्तान के कमीनों तथा पतितों में सबसे अधिक कमीना एवं पतित था को दीवाने विजारत प्रदान की, किरान (शायद अस्पृश्य) को अवध दिया।"

यह वाकई एक विचित्र स्थिति थी। समाज के निम्नतम तबके के लोग उच्चतम पदों पर आसीन थे। यह इसीलिए संभव हुआ क्योंकि इससे राजनैतिक ढांचे को कोई खतरा नहीं था, बल्कि उससे फायदा ही था।

इसके विपरीत विश्व इतिहास में ऐसी मिसालें मौजूद हैं जिनमें गुलामों ने सत्ता कायम की और उसका उपयोग गुलामी को खत्म करने के लिए किया। रोम के साम्राज्य के इतिहास में स्पार्टकस विद्रोह का खासा महत्व है। स्पार्टकस जो एक गुलाम था, ने रोमन साम्राज्य के विरोध में एक सैनिक सत्ता बनाई जिसका उद्देश्य रोमन साम्राज्य को खत्म करना और तमाम गुलामों को मुक्त करना था। उसके बारे में फिर कभी।

सी. एन. सुब्रह्मण्यम – एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम में कार्यरत।